P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-5* ISSUE-7* October - 2020
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

बदलते भारतीय परिदृश्य में मानवाधिकार की संस्कृति, साहित्य और मीडिया के सामाजिक–मनोवैज्ञानिक सरोकार एवं शांति शिक्षा की प्रासंगिकता

The Socio-Psychological Concerns of Human Rights Culture, Literature and Media And The Relevance of Peace Education In The Changing Indian Landscape

Paper Submission: 15/10/2020, Date of Acceptance: 26/10/2020, Date of Publication: 27/10/2020

मंजुला
असिस्टेंट प्रोफेसर
शिक्षा शास्त्र विभाग,
इस्लामिया टी0 टी0 कॉलेज,
फुलवारीशरीफ, पटना, बिहार
भारत

सारांश

परिदृश्य एक व्यापक और गतिशील अवधारणा है। इसके अंतर्गत परिवेश के प्रत्यक्ष प्रारूप और परिस्थितियाँ–दोनों ही आ जाती हैं। जहां तक भारतीयता की बात करें, तो आद्योपांत इसके द्वारा सहृदयता, सहिष्णुता, सेवा और संयम की बात की गयी है और सुधी जनों ने इसे ही 'सभ्य–सुसंस्कृत भारत' कहा है। हम जानते हैं कि संस्कृति के दो पक्ष हैं – भौतिक संस्कृति और अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति सुव्यवस्था और साधनों की बात करता है और अभौतिक संस्कृति सद्गुण, समर्पण, आचरण, आस्था, विश्वास और परम्पराओं की बात करता है। दूसरे शब्दों में भौतिक संस्कृति स्थूल है, तो अभौतिक संस्कृति सूक्ष्म–संवेदनशील। यह तो संस्कृति की परिचयात्मक अवधारणा है। यदि बदलते भारतीय परिदृश्य में देखें तो हमें संस्कृति की प्रवृत्यात्मक अवधारणा को भी समझना होगा। संस्कृति का आचरण किस प्रतीक के साथ, उसके इर्द–गिर्द केंद्रित है; उसे भी समझना होगा। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सूचनायें यह स्वीकार करने को विवश है कि आज भारत की संस्कृति 'मानवाधिकार' के मानकों के इर्द–गिर्द हीं रच–बस गयी है। आज लगभग हर भारतीय अपने ''पाने और पाते रहने की की साम्राज्यवादी संस्कृति'' से संचालित और नियंत्रित हो रहा है। ऐसे में एक सशक्त यक्ष प्रश्न बन जाता है कि हमारी, एक भारतीय की; संस्कृति का आचरण परिवर्तित कैसे हो रहा है। कब, क्या, कहाँ और किसके प्रभाव से हो रहा है। यदि हम इन चार 'ककारों' से प्रतिध्वनित होने वाले प्रश्नों का जबाब ढूंढ़ने निकलते हैं, तो हमारा ध्यान संस्कृति के वर्त्तमान रूप और स्वरूप (Form and nature) की ट्रेडेन्सी तथा समाज के उन पक्षों की ओर अनायास ही चला जाता है, जिसके साथ एक व्यक्ति का संपर्क होता है। साहित्य, सिनेमा, समाचार, संगीत और शिक्षा इन पक्षों में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

प्रस्तुत आलेख उपरोक्त तत्त्वों के लेखन (साहित्य की समस्त विधाओं में); प्रदर्शन (मीडिया के दोनों रूपों –प्रिंट/इलेक्ट्रानिक) और दर्शन (शिक्षा के समस्त नवाचारी प्रयोगों) की ट्रेडेन्सी के मनोवैज्ञानिक पक्ष को पारदर्शिता के साथ प्रस्तुत करने का एक प्रयास होगा। आज साहित्य हो या मीडिया–दोनों में ही रचनायें 'प्रत्यक्षदर्शिता' के सिद्धांत का पालन कर रही है। वस्तुतः रचना के तीनों वर्णों ने ही रचना (Creation) की प्रकृति और प्रवृत्ति का पारामीटर तय कर दिया है। अर्थात् रसमयी, च अर्थात् चिंतन का परिणाम और ना अर्थात् नर से लेकर नारायण तक की यात्रा का पथप्रदर्शक। फिर आज क्यूँ हर क्षेत्र की रचनायें अपने वजूद से विकृति की ओर बढ़ रही है। इन्हें कैसे रोका जाए इस पतन से? शायद शिक्षा की प्रासंगिकता बढ़ रही है। हम सिर्फ 21 सितंबर को 'विश्व शांति दिवस' मनाकर या अहिंसा का पाठ पढ़ाकर अपने दायित्व बोध को संतुष्ट नहीं कर सकते। हमें मानवाधिकार की संस्कृति को पूर्वाग्रह या दुराग्रह से बचाना होगा। भारतीय साहित्य और मीडिया के मनोविज्ञान को अपने सृजन में शांति के तत्त्वों को मन की अवस्था, अहिंसा के प्रतीक से आगे 'चरित्र' में आरोपित करना होगा।

The landscape is a broad and dynamic concept. Under this, both the direct pattern and the conditions of the environment are covered. As far as Indianness is concerned, End to end has talked of it with kindness, tolerance, service and restraint and Sudhi people have called it 'civilized-cultured India'. If we look at the changing Indian scenario, we also have to understand the cultural concept of culture. With which symbol, the conduct of culture is centered around it. The information received from various sources is bound to acknowledge that the culture of India today has been built around the standards of 'human rights'. Today almost every Indian is governed and controlled by his "imperialist culture of finding and finding". In such a situation, a strong Yaksha question becomes that of us, an Indian; How is the behavior of culture changing? When, what, where and by whom the effect is happening. If we go on looking for answers to the questions that are echoed by these four 'kakaras', then our attention goes spontaneously towards the current form and form of the culture; Is a contact of Literature, cinema, news, music and education play major roles in these aspects.

Writing article of the above elements, this is an attempt to present with transparency the psychological side of demonstration (both media forms - print / electronic) and philosophy (all innovative experiments of education).

मुख्य शब्दः परिदृश्य, संस्कृति, मानवाधिकार, साहित्य मीडिया, मनोविज्ञान, शांति, शिक्षा।
Landscapes, Culture, Human Rights, Literature Media, Psychology, Peace, Education.

प्रस्तावना

बदलते परिदृश्य में भारतीय संस्कृति, साहित्य, मीडिया और मनोविज्ञान –इस विषय पर विमर्श एक समन्वित और संतुलित दृष्टिकोण की मांग करता है। 'शिक्षा' एकमात्र विकल्प के रूप में विमर्श को एक वस्तुनिष्ठ और स्वीकृत दृष्टिकोण प्रदान कर सकती है। शिक्षा के पास वह दृष्टि और दृष्टिकोण है जो व्यक्ति की सुझ, समझ, संवेदना, समस्या और सामर्थ्यता को पढ़ भी सकता है और पढ़ा भी सकता है। अतः इस विमर्श की चिंतक शिक्षा को बनाना तार्किक और उचित है।

साहित्यावलोकन–

प्रस्तुत अध्ययन समकालीन साहित्य और मीडिया के बदलते रुझानों को दर्शाने के उद्देश्य से किया गया है। इस कार्य के लिए वर्तमान दौर के पत्र–पत्रिकाओं और टेलीविजन के मनोरंजन कार्यक्रम, वेब सिनेमा, समाचार प्रसारण इत्यादि के सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रभाव को देखने का एक लघु प्रयास है आभासी दुनिया के लेखकों को भी इस अध्ययन का विषय वस्तु माना गया है। समीक्षा के दृष्टिकोण को पारदर्शी बनाने के लिए कुमार जैनेंद्र की पुस्तक "समय और हम" तथा राजेंद्र यादव की पुस्तक कहानीः स्वरूप और संवेदना और समाजशास्त्र कोश को समझने की कोशिश की गई है।

अध्ययन का उद्देश्य

जब हम परिदृश्य की बात करते हैं, तो यह वातावरण के देश और काल; दोनों की उपस्थिति का बोध कराता है। इस मायने में यदि सोचे तो समाज इस विमर्श का एक अमूर्त सुत्रधार है, अदृश्य नायक है, जो अपनी संस्कृति के आदिकाल से अर्वाचीन काल की दशा और दिशा को साहित्य, मीडिया और वाणिज्य के माध्यम से प्रस्तुत कर रहा है। वस्तुतः संपूर्ण विमर्श के केन्द्र में समाज का मनोविज्ञान जानना, पहचानना और समझना इस आलेख का मुख्य उद्देश्य होगा। इतने बड़े फलक का दृश्य प्राप्त करने के लिए हमें निम्नलिखित चरणों में अपनी चर्चा का लक्ष्य निर्धारित करना होगा :–

बदलते परिदृश्य में

1. संस्कृति के स्वरूप एवं लक्ष्यों में परिवर्तन के विविध आयामों को समझना।
2. साहित्य के स्वरूप एवं लक्ष्यों में आये परिवर्तन के विविध आयामों को समझना।
3. समाज के स्वरूप एवं लक्ष्यों के मनोविज्ञान में आये परिवर्तन को समझना।
4. मीडिया के स्वरूप एवं लक्ष्यों में आये परिवर्तन के विविध आयामों को समझना।
5. नवाचारी शांति शिक्षा की प्रासंगिकता एवं चुनौतियों को समझना।

परिकल्पनाएं

1. संस्कृति के परम्परागत स्वरूप की प्रकृति और प्रवृत्ति में अंतर विद्यमान है।
2. समाज के परम्पागत ढ़ांचे की प्रकृति और प्रवृति में अंतर विद्यमान है।
3. समाज के मनोविज्ञान की ट्रेडेंसी (रूझानों) के प्रकृति और प्रवृति में अंतर विद्यमान है।
4. मीडिया की प्रकृति और प्रवृति में अंतर विद्यमान है।
5. वाणिज्य की प्रकृति और प्रवृति में अंतर विद्यमान है।
6. शिक्षा का नवाचार 'शांति शिक्षा' की प्रकृति और प्रवृति का प्रयोग चुनौतीपूर्ण है।

अध्ययन विधि

विमर्श का विषय बहुविषयी विवेचना की अपेक्षा करता है। अतः अध्ययन की विधि के रूप में अवलोकन विधि और प्रविधि के रूप में ब्रेन–स्टार्मिंग विधि का प्रयोग किया जाना तर्क संगत है। आलेख का प्रारूप विवरणात्मक है।

परिसीमन

इस अध्ययन में वृहद् एवं बहुविषयी स्वभाव के कारण संस्कृति, साहित्य, मनोविज्ञान, मीडिया और वाणिज्य के विभिन्न उपांगों अथवा विधाओं की चर्चा अलग–अलग नहीं की जाएगी। अध्ययन का प्रस्तुतीकरण उपरोक्त सभी विषयों की मात्र 'प्रकृति और प्रवृति' का एक समेकित और समग्र व्याख्यान प्रस्तुत करेगा। साहित्य का संदर्भ हिन्दी–साहित्य पर केन्द्रीत होगा। शोध–अध्ययन विवादित न हो इसलिए वर्त्तमान दौर की रचना का उद्धरण नहीं किया जायेगा।

बदलते परिदृश्य में संस्कृति

हम जानते हैं कि भारत एक सांस्कृतिक बहुलवादी देश है। समाज शास्त्र विश्वकोश के अनुसार ''जब किसी समाज में एकाधिक संस्कृतियों के लोग साथ–साथ रहते हैं तथा उनके इस प्रकार के सहअस्तित्त्व का समर्थन भी किया जाता है, तब यह स्थिति सांस्कृतिक बहुतवाद के नाम से जानी जाती है।'' संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिए प्रसिद्ध मानव–वैज्ञानिक ई0 बी0 टायलर की परिभाषा आज भी स्वीकार्य है, जिसमें उन्होंने बताया है कि ''संस्कृति वह जटिल सम्पूर्णता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कलाएं, नैतिकता, विधि, प्रथाएं और वे सभी योग्यताएं एवं क्षमताएं सम्मिलित की जाती हैं : जिन्हें समाज के एक सदस्य के रूप में मानव अर्जित करता है।'' मैकाइवर तथा पेज ने भी टाइलर से सहमती दिखायी है। यदि सरल शब्दों में कहें तो संस्कृति हमारे रहन–सहन तथा सोचने–समझने की शैली में, हमारे प्रतिदिन के संवाद में, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन तथा अमोद–प्रमोद में हमारे स्वभाव की अभिव्यक्ति है।

यदि भारतीय परिप्रेक्ष्य में संस्कृति की प्रवृत्तियों को देखना हो तो हमें वैदिक संस्कृति से वैश्विक संस्कृति तक की मात्रा तय करनी होगी। हम जानते हैं कि लगभग 5000 वर्ष पूर्व हमने इतिहास लिखने–पढ़ने की संस्कृति को गढ़ने की कवायद शुरू की है। 'हड़प्पा संस्कृति' से वर्त्तमान दौर की 'आभासी संस्कृति' तक आधुनिकीकरण के नाम पर अनेक प्रकार की विविधताओं को स्वीकार और आत्मसात किया है। यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है कि इतिहास–लेखन में; जहां हम अपनी संस्कृति को अमरत्व प्रदान करते हैं; वहां भी एक दृष्टिकोण छिपा हुआ है। हम देखते हैं कि यूरोपीय पुर्नजागरण ने संस्कृति की प्राथमिकताओं को बदला है। पुनर्जागरण से पहले हम सभ्यताओं का इतिहास लिखते थें। तब हम अपने सभ्य–संस्कृत होने के प्रमाण के रूप में अपने रहन–सहन, आचार–विचार के प्रति खुद को उत्तरोत्तर सभ्य आचरण करते हुए प्रदर्शित करते थें। तब हमें अपने आदिकालीन

बर्बर मानव को अधिक सभ्य दिखाना था। पुनर्जागरण के बाद इतिहास के पन्नों पर 'व्यक्ति' केन्द्र में आने लगा। हमें व्यक्ति को अधिक सभ्य–सामर्थ्यवान बनाने की जरूरत हुई और हमने अपनी संस्कृति के नये–नये आयाम गढ़ने की कवायद शुरू कर दी। तब भी इस कार्य की जिम्मेदारी शिक्षा को देने की परम्परा विकसित हुई। शायद इसीलिए आज भी जिन आदिवासियों के पास शिक्षा नहीं पहुंच पायी, उनके आचार–विचारों की तुलना आज तक आदिमानवों से की जाती है।

हड़प्पा संस्कृति से निकलकर वर्त्तमान दौर तक आते–आते संस्कृति 'कास्ट–कल्चर' 'क्लास–कल्चर', 'वी. आई. पी. कल्चर' से चलकर 'ब्राण्ड कल्चर' के दौर में आ गया। इससे हमारे आचरण, हमारी क्रियायें, हमारे व्यवहार, हमारी इच्छा, हमारी अपेक्षा सभी में बदलाव आ गया। हमने संयम, सौहार्द्र और सहयोग के स्थान पर समृद्धि, स्वीकृति और संतुलन को बैठा दिया। पहले हमने 'अभाव' में संयम से काम लिया। सहिष्णु होने की आवश्यकता महसूस की, भले ही कभी–कभी हमारी मजबूरी का भी परिचायक रही। इतिहास के पन्नों में इसकी चर्चा उल्लेखित है। चाहे ई0पू0 का इतिहास हो गया बाद का। हमने स्वयं को कभी समाज से अलग नहीं माना। समाज की हर अच्छी–बुरी प्रवंचनाओं को हमने पहले झेलने के हद तक आत्मसात करने की कोशिश की। परिणाम स्वरूप पीढ़ियों में अदृश्य 'सामाजिक चेतना' ना केवल जीवित रही; बल्कि अपने हर व्यवहार, हर कृत के लिए प्राथमिकता का दर्जा पाती रही। 'हम जो करेंगे, समाज इस पर क्या सोचेगा'–इस ओर हमारा ध्यान सबसे पहले और शायद सबसे अधिक जाता था। परन्तु आज हमारी संस्कृति कुछ ज्यादा 'अप–टू–डेट' हो गयी है। इसे हम up to date के अनुवाद 'अद्यतन' रूप में ना लेकर, यदि यह कहें कि हम हर डेट यानि तिथि से, यानि समय से ऊपर निकल जाने की होड़ में लग जानेवाली संस्कृति के सदस्य हैं। आज हमारी प्राथमिकताओं में समाज तो है; किन्तु वह समाज जिस पर हम अपना वर्चस्व, अपना प्रभुत्व दिखा सकें। हमने समाज को संस्कृति के पारामीटर को बदल दिया है। 'बी0 आई0 पी0' कल्चर और 'ब्राण्ड कल्चर' ने हमारी आचरण, व्यवहार, विश्वास और मान्यताएं बदल दी हैं। हम सौहार्द्र और प्रेम की बजायें दूसरे के साथ 'केमेस्ट्री' बनाने की बात करने लगे हैं। जो जैसा है, वही हमें स्वीकार है, क्योंकि हमें वह प्रिय है –यह कथन न जाने कहां खो गया। आज हमारे 'प्रिय' नहीं, 'पसंद' होते हैं। चाहे जीवन का लक्ष्य हों या सामाजिक–सांस्कृतिक बाध्यता। हम अपनी सहुलियत से 'पसंद' को चुनकर आगे बढ़ जाते हैं और यह पसंद भी क्षणभंगुर के समान हर पल बदलता है। हमारी पुरातन संस्कृति बेकन के 'सिद्धान्त' को बहिष्कृत करके 'सिद्धि' की बात करती थी। किन्तु आज की संस्कृति ने तो 'सिद्धांत' और 'सिद्धि' दोनों को बहिष्कृत कर रखा है। हम आम आदमी हैं – के कथ्य की पगडंडी पर चलकर हम खुद एक ऐसी यात्रा पर चल रहें हैं जिसकी मंजिल से हम स्वयं अनजान हैं। हमने 'समृद्धि' और 'प्रसिद्धि' को अधिक शक्तिशाली माना है। आज हमारे 'विलिव सिस्टम' धाराशायी हो गये हैं। हमने हर पल, हर घड़ी 'पाने और खोने' की भयग्रस्त संस्कृति बना रखी है। ''.... शायद हम भी अमूक होते तो यह कार्य आसान हो जाता –ऐसी संस्कृति की आजीवन सदस्यता ले रखी है हमने। भौतिकवादी मानसिकता, सत्ता के प्रति लोलुपता–ऐसी संस्कृति बनती जा रही है भारत की। आज हम और हमारे के बीच 'परस्परता' का सानिध्य नहीं; 'सामंजस्य' की केमेस्ट्री का करती है। हम 'संवाद' करने के स्थान पर 'विवाद' अधिक करते हैं। हम संबंध स्थापित नहीं करते; संतुलन (Balance) बनाते हैं। आज हम डार्विन के थ्योरी ऑफ सेलेक्शन और हरबर्ट स्पेंसर के 'योग्यतम के अतिजीवन' की परिभाषा को बदलते हुए दिख रहे हैं।''

हमने संस्कृति को 'संतोषं परमं' से 'Self-satisfaction' के गर्त में डाल दिया है। संतोषं परमं सुखं की संस्कृति संयमित जीवन शैली को जिंदा रखती थी और 'सेल्फ–सटिसफेक्शन' अपनी संतुष्टि हर हाल में चाहता है; किसी भी कीमत पर। यहां यम, नभ, नियम जैसे कोई बंधन नहीं होते। संक्षेप में यदि कहना हो तो हम कह सकते हैं कि हमारी संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण से भ्रमित हो रही है। प्रैक्टिकल दिखने वाली यह संस्कृति प्वाजन का काम कर रही है। यह सच है कि हर समाज की संस्कृति का यह दायित्व होता है कि वह अपने समाज को समृद्ध करे। परन्तु 'समृद्ध समाज' की अवधारण होती कैसी है, हमें यह याद रखना होगा। जहां तक हमारी समझ (सूचनात्मक ज्ञान पर आधारित) समृद्ध समाज सर्वप्रथम स्वावलंबन की बात करता है। आत्मनिर्भरता अर्थात् अर्थोपार्जन की क्षमता। तदोपरांत सामाजिक–सांस्कृतिक–राष्ट्रीय चेतना के परस्पर एकीकृत मनोवृत्ति और व्यवहार की बात करता है। 'समानता' जैसे प्रत्यय इसके भाषणों का 'आदर्श' गहना नहीं; इसकी गतिविधियों में 'वितरण' का 'पैमाना' है।

इस समृद्ध समाज में वर्त्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति के चाल–चलन कहीं नहीं दिखते। उपभोक्ता बन चुका मनुष्य आज 'मानवाधिकार रूपी छद्म संस्कृति' के पीछे खड़ा है।

बदलते भारतीय परिदृश्य में साहित्य :

बदलते भारतीय परिदृश्य का साहित्य भी अपने प्रारूप और प्रवृति में अतीत से काफी परिवर्तित हो गया है। शिल्प और संवेदना–दोनों ही स्तर पर यह बदलाव दिख रहा है। साहित्य के क्षेत्र में आये बदलाव को हम नवें दशक के बाद के साहित्य–संबंधी विधाओं एवं उनकी रूझानों से लें। क्योंकि वर्तमान साहित्य की जड़ें उन्हीं कालखण्ड के साहित्यिक कृतियों एवं कृतिकारों में हैं। यहां यह भी याद करना होगा कि पूरे विश्व में 9वें दशक के आर्थिक उदारीकरण व भूमंडलीकरण की समझ शायद उतनी स्पष्ट भी नहीं उतर पायी थी, जितनी ब्रिटेन और अमेरिका के नवदक्षिणवाद (New right) की। हम जानते हैं कि 1980 के दशक में ब्रिटेन और अमेरिका में श्रीमती थेचर और रीगन के प्रशासन से प्रोत्साहित एक नये राजनीतिक दर्शन की शुरूआत की। परिणाम स्वरूप स्वतंत्र बाजार, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, राज्य हस्तक्षेप और समाज कल्याण में कटौती, जनवादी नैतिकता और सत्तावाद जैसे शब्द समाज में अधिक प्रचलित हुए। यही वह दौर था जब मौजूदा साहित्यकार अपनी सहानुभूतियों

और स्वाभिव्यक्तियों को बिना प्रतीक, बिना बिम्ब स्थापना के सीधे–सादे शब्दों में रखने की परंपरा बनानी शुरू की। साठोतरी कविता, अकविता, नई कविता, जनवादी लेखन, अस्तित्व–विमर्श आदि अनेक रूपों में साहित्य लेखन जारी रहा। किन्तु उस दौर के साहित्य में फिर भी एक अर्न्तवस्तु विश्लेषणात्मकता थी, दूरदर्शिता के साथ। हमें याद है राजेन्द्र यादव ने कहा था, ''आज साहित्य अधिक यथार्थ–दृष्टि, प्रमाणिकता और अधिक ईमानदारी से अपने आसपास के परिचित परिवेश में ही ऐसे सत्य को पाने की कोशिश करती है, जो टूटा हुआ, कटा–छंटा या आरोपित नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक सत्य का एक अंग है।'' नामवर सिंह के शब्दों में ''कथा–साहित्य अब अपनी पुरानी हदें तोड़ आयी हैं और नयी परिभाषा चाहती हैं।'' तात्पर्य यह है कि साहित्य की प्रवृति–व्यक्ति और परिवेश–आत्मपरक (सब्जेक्टिव) और वैयक्तिक (पर्सनल) हो गया।

वर्त्तमान साहित्य में उसी ट्रेड की नकल या अनुकरण करने की प्रवृति देखी जा सकती है। कमोबेश साहित्य की समस्त विधाओं में रचना (क्रियेशन) के बुनावट (टैक्स्चर) की जटिलता का अहसास गहराता गया। अब स्वानुभूतियों को ज्यों–का–त्यों प्रस्तुत करने का आग्रह बढ़ा है। इस हालात में रचना ने अपने तीनों वर्णों को एक हद तक हाशिये पर ढ़केला है। र च ना अर्थात् रचना, अर्थात् रसमयी, चिंतन के योग्य और नर से लेकर नारायण तक की यात्रा का वृतांत। भाषा 'सरलीकरण' के नाम पर 'स्तरहीन' हुई। लक्षणा और अभिधा तो लगभग कोरोनाग्रस्त मालूम पड़ते हैं। कभी–कभार ठीक हुए मरीज के समान दिख जाते हैं और भयातुर कर जाते है।। कभी 'कुकुरमुत्ता' (1941) का मजदूर 'स्वाभिमानी' व्यक्ति के रूप में सामने आता था जो सिर उठाकर खड़ा था और आज 07 जून, 2020 को साहित्य के बेब पन्ने ''.... क्योंकि मैं मजदूर हूँ'' की कथा सुनाकर उसे उसकी दुर्दशा से कमजोर और विवश बनाता है। मानो सारी विपदा सहने के बाद घुट–घुट कर जीना ही, उसकी नियति है। एक विकल्प के रूप में बिना कहे आज साहित्य की प्रवृति कुण्ठा और आक्रमकता परोसते हुए दिखती है। भाषा और समीक्षा के स्तर पर स्थिति आज जयशंकर प्रसाद की कामायनी की पंक्तियों के द्वारा सटिक बतायी जा सकती है –

''ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यूँ पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडंबना है जीवन की।''

आज की लेखन अपने ज्ञान और पुरुषार्थ से कवि–कर्म को दूर ले जा चुका है। आज सिर्फ छपने और एवार्ड लेने के लिए लिखा जा रहा है। दोनों तरह के मंच बना दिये गए हैं। एक पत्रिका–प्रकाशन और पुरस्कार वितरण के और दूसरा कौतुहल, मनलुभावन, तुकबंदी या बोलचाल की भाषा के लेखन के। साहित्यिक पत्र–पत्रिकायें प्रचार का माध्यम अधिक हैं, समाज का आख्यान कम। आज 'हंस' जैसी पत्रिका भी 'बाजार' के अनुसार अपनी उत्पादन की कीमत बढ़ा–घटा रही है। कोई अंक 30 रुपये प्रति/कोई 40रु0/कोई 80रु0/तो कोई 100रु0 कारण; यदि सत्ता और दलित पर लिख रहे हैं, तो 80रुपये देने वाले पाठक भी मिल जायेंगे; यदि सिनेमा के 100वर्षों पर लिख रहे हैं, तो 100रु0 देकर भी छात्र–संकाय, युवा–संकाय के खरीदार मिल जायेंगे। ऐसी स्थिति में साहित्य लेखन और साहित्य–प्रकाशन–दोनों की दशा और दिशा शून्यता की स्थिति में चली गयी है। आज धर्मयुग, कादम्बिनी, सारिका, दिनमान जैसी पत्रिकाओं के प्रकाशन में कौन पैसा लगाये? वहां विज्ञापन देने का कोई स्कोप ही नहीं है। कारण कि ऐसे पाठक 'विज्ञापनों' से नहीं 'स्वआकलन' से जीते हैं। .... तो ऐसे पाठकों को बहिष्कृत कर देना चाहिये। स्वतः ऐसे लेखक अपने दो विकल्पों में से एक को तलाश लेंगें–या तो लेखन की प्रकृति या प्रवृति बदलेंगे या लिखना बंद कर देंगे। क्योंकि पता है कि अब डायरी, यात्रा–वृतांत, रेखाचित्र आदि प्रकाशित नहीं किये जाते। आज का लेखक संघर्ष के साथ सृजन नहीं करता; 'संघर्ष' को विषय बनाकर अपने मन की विकृतियों को बाहर निकालने की जद्दोजहद करता है। आज लेखन में 'संघर्ष' ना तो भोगा हुआ यथार्थ है; न समस्याओं का संवेदनशील स्पर्श। सब कुछ 'विवरण' है; कुछ कहने की ललक में, कुछ भी कह देने की होड़। हम राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, संजीव, उदय प्रकाश के दौर से निकल कर अरूंधती राय तक पहुंच चुके हैं। जब निराला ने 'कुकुरमुत्ता' में तु हरामी खानदानी, रोज पड़ता रहा पानी' लिखा तो साहित्य के कर्णधारों ने भाषा के मर्यादा को बचाने के लिए विरोध करना कर्त्तव्य समझा। आज तो मंच भाषा के मर्यादा की नहीं; समझ सकनेवाली भाषा का सहारा लेकर औचित्य का पारामीटर बदल रहा है। आश्चर्य है कि जब हमारी साक्षरता दर 7 प्रतिशत थी, तब उत्कृष्ट भाषा को समझा जा सकता था, सामान्य भाषा में उत्कृष्ट भाव को समझा जाता था लेकिन आज जब हमारी साक्षरता दर 74 प्रतिशत है तो भाव और भाषा दोनों का पतन करते हुए साहित्य के कर्णधार समय की मांग का सहारा लेते हैं।

नई कविता में भी साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग होता था। किन्तु इससे कविता का सहज माधुर्य बढ़ जाता था। यथा – ''हम तो उनका वोट न देबै
जो हमका बधियाइन हैं
रोटी, कपड़ा लत्ता खातिर
जो हमका तरसाइन है।
आजादी के टोपीधारी
हमका भीख मंगाइन हैं।''

विरोध के ऐसे तेवर जो निश्चयात्मक हैं, फिर भी आक्रमक या विध्वंसक नहीं। मनुष्य अपने 'छोटे' होने का एहसास कैसे व्यक्त करता रहा। लक्ष्मीकांत वर्मा की पंक्तियों को देखें –

मैं जो लघु मानव–सा
खड़ा हूँ याचक–सा
अपनी गति की उपलब्धियों में
नाप लूंगा सारी पृथ्वी
सारा आकाश
और तुम्हारी पीठ भी
और पीठ का शेष भी
क्योंकि मेरे पैर

केवल पैर नहीं
वे आंखे हैं मेरी संकल्प शक्ति की।''

लेखक खुद को इतना छोटा मान रहा है; जहाँ वह खुद को मानव की छाया मान रहा है। यहां 'लघु' शब्द सभी मानवों के विलुप्त होते स्थिति को बयां कर रहा है।

आजकल यह अंदाज देखने को नहीं मिलता। बिना किसी लेखक और रचना का उल्लेख करते हुए इस ओर चर्चा होनी चाहिए। किसी के नाम एवं संकलन से पुरा विमर्श विवादास्पद हो सकता है। जब भवानी प्रसाद मिश्र ने लिखा होगा –

''जिस तरह हम बोलते हैं
उस तरह तू लिख
और इसके बाद भी हमसे बड़ा तु दिख''।

तब यह नहीं सोचा होगा कि हम 'बोलने' के नाम पर 'कुछ भी बोल रहे होंगे।'.... और धीरे–धीरे साहित्य का कद बौना हो जाएगा।

बदलते परिदृश्य में मीडिया

मीडिया के मायनों और कार्यशैली को बदलते परिदृश्य में देखने से पहले हमें यह देखना होगा कि मीडिया का प्रतिनिधि आज हम किसको मानते हैं? फिर यह भी देखना होगा कि मिडिया के उद्देश्यों में क्या बदलाव आये हैं? तब कहीं जाकर हम विमर्श की तह में पहुंच पायेंगे कि मीडिया की प्रकृति और प्रवृति सही है या गलत? एक समय था जब रामचरितमानस को साहित्य, नहीं जन–माध्यम के रूप में देखा जाता था। महाभारत के संजय को संवाददाता कहा जाता था। आज मीडिया बोलते ही हमारे मन में टी0 वी0, अखबार और सिनेमा की याद आती है। जहां तक पत्र–पत्रिकाओं की बात है, तो आज फेस–बुक और व्हास्एप ने इसका स्थान ले लिया है। पत्रिकायें या तो दम तोड़ रही हैं या अस्तित्व को बचाने की ऊहापोह में तथाकथित नवलेखकों को प्लेटफार्म सुलभ करा रही हैं। इन जन माध्यमों से संचरित होने वाले संदेशों की ओर ध्यानाकर्षित करें। टेलिविजन में मनोरंजन और ज्ञानरंजन के लिए काम किया जा रहा है। सरकारी और प्राइवेट– दो अलग–अलग धुरी पर काम कर रहे हैं। परन्तु कुछ सरकारी चैनल में महानिदेशक वं उनकी लॉबी अधिक शक्तिशाली हुई है। प्राइवेट चैनलों ने तो समाज को बाजार बना दिया है। यहां हर कुछ टी0 आर0 पी0 के लिए किया जाता है। यहां तक कि खबरें भी। अखबार हो या टेलीविजन, बिना सूत्रोल्लेख के समाचार छप रहे हैं। अब 'बाई लाइन' या क्रेडिट लाइन शायद ही कोई संवाददाता जानता हो। पहले के अखबार के न्यूज का प्रारूप देखें :–

सर्विस रिवाल्वर से गोली चली, पत्नी घायल सिपाही गिरफ्तार

नगर संवाददाता

नई दिल्ली (का.सं.)। डाबड़ी इलाके में रहस्यमयी परिस्थितियों में दिल्ली पुलिस के सिपाही की सर्विस रिवाल्वर से चली गोली से उसकी पत्नी जख्मी हो गई। उसे दीनदयाल अस्पताल में भर्ती कराया गया है।

हालांकि महिला ने पुलिस को बयान दिए हैं कि उससे गलती से गोली चल गई थी मगर सिपाही ने पुलिस को सूचना दी थी कि उसकी मां से गोली चली और पत्नी जख्मी हो गई। शादी को चार साल होने की वजह से क्षेत्रीय एसडीएम भी मामले की जांच कर रहे हैं। उक्त सिपाही हस्तसाल से विधायक मुकेश शर्मा की सुरक्षा में तैनात है।

जानकारी के मुताबिक सिपाही धर्मेंद्र ने रविवार दोपहर पीसीआर को सूचना दी थी कि उसकी मां से गोली चल गई है। इस सूचना के आधार पर पुलिस मौके पर पहुंची और सिपाही की पत्नी इंदू (27) को अस्पताल में भर्ती कराया। इंदू ने बयान दिए हैं कि वह खुद ही रिवाल्वर को देख रही थी कि अचानक गोली चल गई। इससे उसके कंधे से नीचे गोली लगी। जिस समय गोली चली, उस समय उसका पति व सास दूसरे कमरे में थे। सिपाही को गिरफ्तार कर लिया गया है।

दैनिक हिंदुस्तान
25 अक्टूबर, 2004

——— शीर्षक / हैडिंग
——— सूत्रोल्लेख
——— समाचार प्रस्तुतकर्त्ता, तिथि, दिन व स्थान, समाचार स्रोत का उल्लेख
भूमिका
———
तथ्यों का विस्तार
———
समापन

और आज का –

प्रोपर्टी डीलर के बेटे को गोलियों से किया छलनी

जा.सं. आरा : टाउन थाना क्षेत्र के गौसगंज मोड़ के समीप सोमवार को सरेशाम बाइक सवार हथियारबंद अपराधियों ने प्रोपर्टी डीलर के बेटे को गोलियों से छलनी कर मार डाला। मृतक की पहचान गौसगंज निवासी नंद किशोर

आरा में वारदात, अपराधियों ने आधा दर्जन से अधिक गोलियां शरीर में उतारी, चार खोखे बरामद, ठेके संबंधी विवाद में वारदात

गया में क्वारंटाइन सेंटर पर तैनात चौकीदार की हत्या

संस, गया : सर्वोदय उच्च विद्यालय में क्वारंटाइन सेंटर पर

पासवान के 30 वर्षीय पुत्र मिथुन पासवान के रूप में हुई है। मृतक के सिर, सीने और हाथ समेत शरीर के आधा दर्जन से अधिक भागों में गोली के जख्म के निशान पाए गए हैं। मिथुन के पिता मिट्टी भराई का ठेका के साथ–साथ प्रोपर्टी डीलर का भी काम करते हैं। वे पूर्व में वार्ड सदस्य का चुनाव भी लड़ चुके हैं। पुलिस को मौके से पिस्टल की गोली के चार खोखे मिले हैं। करीब पन्द्रह से बीस राउंड फायरिंग की गई है। भोजपुर एसपी सुशील कुमार ने बताया कि शुरुआती जांच में वाहन स्टैंड के ठेके संबंधी विवाद की बात सामने आ रही है।

गौसगंज निवासी मिथुन पासवान अपने भांजे दीपक पासवान के साथ घर से कोल्ड ड्रिंक पीने के लिए गौसगंज मोड़ की ओर गए थे। गौसगंज मोड़ पहुंचने पर वह बाइक लगाकर खड़े ही हुए थी कि इसी दौरान बाइक तैनात चौकीदार वीरेंद्र पासवान की अपराधियों ने रविवार रात गोली मारकर हत्या कर दी। यह विद्यालय गया जिला में अलीपुर थाना क्षेत्र के मखदुमपुर में अवस्थित है ओर वीरेंद्र उसी गांव के निवासी थे। सोमावार सुबह निमसर पुल से पहले बगीचे में खून से लथपथ वीरेंद्र का शव मिला। पेट और कपनटी में गोली मारी गई है। शरीर पर जहां–जहां खरोंच के निशान है।

पर तीन अपराधी आ धमके तथा पिस्टल निकालकर ताबड़तोड़ फायरिंग शुरू कर दी। मिथुन को मौके वारदात से उठाकर सदर अस्पताल लाया गया जहां डॉक्टर ने उन्हें मृत घोषित कर दिया।

दैनिक जागरण
6 जून 2020

पहले पत्रकारिता अपने तीनों पुरोधा–भारतेन्दु जी, महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रेमचंद जी के पदचिन्हों पर चलने में दिलचस्पी लेती थी। हमने देखा कि पत्रकारिता का स्पष्ट एजेंडा होता था। स्वतंत्रताकालीन एजेंडा का खेमा तीन भागों में बंटा था– आजादी की मांग करना, समाज की कुप्रथाओं को दूर करना और सुव्यवस्था की मांग रखना। कालांतर में सारे एजेंडे के ऊपर 'प्रबंधकों के हित' को एजेंडा मान लिया गया। वर्तिका नंदा जैसी पत्रकार ने अपनी विवशता को दर्शाते हुए लिखा है (मीडिया और बाजार में) – ''पत्रकार पर दबाव था–बढ़िया, खास और बांधनेवाली नयी तरह की खबर लाने की।'' आज मीडिया में शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी विस्थापन –यह सब नहीं दिखता। सभी तरह की मीडिया सिर्फ औपचारिकता पूरी कर रही है। आर्थर मिलर ने कहा था– ''अच्छा अखबार वो है जिसमें देश खुद से बातें करता है। पर आज अखबार हो या मीडिया के अन्य साधन अपने प्रबंधक के मन और मनों के अनुसार लोगों से बातें कर रहा है। संपादक से प्रबंध संपाक अधिक शक्तिशाली हुआ है। जिस प्रबंधक को जो नेरेटिव सूट कर करता है, उसी के ईद–गिर्द लिखने लगते हैं। नतीजा समाज भ्रमित और पत्रकार इन्वायरमेंटल कन्शर्स से दूर होता जा रहा है। यदि इक्के–दुक्के फिल्मों और संगति को छोड़ दे तो; वहां की स्थिति भी कुछ अच्छी नहीं कही जा सकती। वेब–मीडिया ने तो भाषा का चीरहरण कर लिया है। कहा जाता है खोटा सिक्का खुद तो चलता नहीं पर आपको गड्ढ़े में जरूर गिरा जाता है। बहुतायत हालात कुछ ऐसे ही हैं। पहले 'ध्यानाकर्षण' करने की शर्त केवल विज्ञापनों में होती थी, अब समाचार भी इसी कसौटी पर गढ़ा जाने लगा। भाषा के तो क्या बात! अब कोरोना काल के शब्दों को लीजिए– सोशल डिस्टेंसिंग, क्वारेन्टाइन, ग्लब्स, मास्क, होम आइसोलेशन–इन सभी शब्दों में अपनी 'हिन्दी' है क्या कहीं?'' पहला शब्द भी जरा गौर करने लायक है। सोशल डिस्टेंसिंग है यह या फिजिकल डिस्टेंसिंग? वेब फिल्में गाली–गलौज की भाषा प्रयोग में लाकर अधिक अपनापन बटोरना चाहती है। मानों हमें ऐसी भाषा दोहराने का लाइसेंस मिल गया हो। अब गज़ल और गीत के बोल धुनों के बीच खोते जा रहे हैं। ';गलो बॉय' के गाने तथा मॉडल बन गये। 'तेरे मेरे सपने अब एक रंग हैं' (गाइड) के तर्ज पर अब 'आज से मेरी सारी दुनियां तेरी हो गयी' (पैडमैन) जैसे गीत लोकप्रिय हुई। ऐसी गीतों में सच्चाई तो है और कनेक्शन भी है। किन्तु भाषा भावों को अंतरंग में नहीं 'बिजली के बिल' में ले जाती है। यानि सांसारिक के अन्योन्याश्रित संबंध भी बदल गये। कोई भी गा सकता और कुछ भी बजा सकता है। उदारता का अजीबोगरीब रूप सामने है।

सृजन के सामाजिक–मनोवैज्ञानिक सरोकार
मनोनिर्माण और मनोरंजन

हम जानते हैं कि आज 'मानवाधिकार' के प्रति अधिक सजग और सक्रिय व्यक्ति अपनी अस्तित्व एवं सत्ता (Exist and existence) के प्रति अपनी अभिव्यक्ति कर रहा है। कहीं यह रिस्पांडिंग (Responding) है तो कहीं रियेक्टिव (Reactive) साहित्य और मीडिया व्यक्ति को सृजन का मंच प्रदान कर रहा है। आधुनिक मनोविज्ञान ने सृजन की घटना का गहराई से अध्ययन किया है। इसका नाम ही है– 'सृजन मनोविज्ञान' (Creative Psychology). यह बताया गया कि सृजन एक ओर मन का नवनिर्माण है, तो दूसरी ओर मनोविनोद। इसके लिए 'फुर्सत' चाहिये, क्योंकि जीवन को त्वरा और ज्वरों दबावों और तनावों, झगड़ों और झंझटों से यदि मन को तनिक छुटकारा न मिला तो वह टूट जाएगा। कला इस 'फुर्सत' में जीवन को रसों से सींचती है। 'साहित्य संगीत' कला विहीनः, साक्षात् पशु पुच्छ विषाणः हीनः अर्थात् साहित्य संगीत और कलाओं से विहीन मनुष्य बिना सींग–पूंछ पशु होता है। तात्पर्य यह है कि सृजन पशु प्रवृतियों की तृप्ति के लिए नहीं होना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्य से वर्त्तमान साहित्य (विशेषतया–हिन्दी साहित्य) और मीडिया पशु प्रवृतियों अर्थात् भोग और मोह के प्रति अधिक दिलचस्पी रख रही है।

आज सृजन से सामाजिक–सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक सरोकार टूट से गये हैं। सामाजिक–सांस्कृतिक, रचनात्मक, कलात्मक ह्रास के वातावरण में रचनाकारों और कलाकारों का जनसाधारण से सीधा सरोकार नही के बराबर है। इतना ही नहीं आज आदमी स्वयं से भी अनभिज्ञ है। यदि सर्वे किया जाये, तो अधिकांश व्यक्ति को यह नहीं पता होता कि वो अपने किन–किन संस्कारों से अपना व्यवहार करते हैं। सर्जक

भी नहीं जानता कि उसके सृजन का चाल और चरित्र क्या है, वह क्या और क्यूं कहना चाहता है? बस इतना पता होता है कि ''अभिव्यक्ति ऐसी हो, जो बाजार में पहचानी जा सके।'' मानो 'अभिव्यक्ति' 'डिमांड' के पीछे–पीछे चलनेवाली प्रक्रिया हो गयी हो। क्योंकि आज लेखकीय चेतना की विचारधारायें त्रिशंकु बन गयी है। इनके धरती और आकाश–छपना और प्रचारित होने तक मात्र सीमित हो गये हैं। हमें याद रखना चाहिए भीष्म साहनी के कथन को ''विचारधारायें'' तभी लेखक को निर्दिष्ट करती है, जब वह लेखक के संवेदन का उसके रचनात्मक व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाये।'' संस्कृति, साहित्य और मीडिया के केन्द्र में रहनेवाला मनुष्य क्या आज यह कह सकता है कि हमारी विचारधारा 'यह' है। नहीं। अब व्यक्तित्व रचनात्मक नहीं, 'सपाट', 'शानदार' और 'डाइनमीक' जैसे पारामीटर पर तौला जाता है।

शांति शिक्षा की प्रासंगिकता

शिक्षा व्यक्ति के अंर्तनिहित गुणों का बाह्यय प्रकाशन है। शिक्षा के द्वारा व्यक्तित्व के मन, मस्तिष्क और हृदय का सर्वांगीण विकास होता है। ऐसे न जाने महापुरुषों विद्वानों का अनगिनत कथ्य है जिससे शिक्षा की प्रकृति और प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है। सभी का अर्थ है कि शिक्षा समाज एवं संस्कृति की एक अभिन्न इकाई है। समाज की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं को पूरा करना और संस्कृति का मार्गदर्शन करना इसके दो प्रमुख कार्य है। शिक्षा ने अपने इस दायित्त्व का निर्वाह करने के लिए 'वैदिक काल' से 'वेब–काल' तक अपने प्रारूप एवं प्रक्रिया में कई बदलाव लाये। वैदिक युग में शिक्षा शिक्षक केंद्रित थीं, बौद्धकाल एवं पुरे मध्यकाल में भी शिक्षक को महत्ता बनी रही। पराधीनता से पूर्व हमारी शिक्षा पाठ–केंद्रित बनायी गयी क्योंकि हमें पाठों के माध्यम से सूचनाएं भी देनी थी और हमारी मानसिकता को भी बदलना था। आजादी के बाद हमारी शिक्षा विषयों के बोझ से लदी हुई परीक्षा–केंद्रित हो गयी। हम पढ़ने और बढ़ने के नये अर्थ खोजने लगे। नवें दशक के भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण ने शिक्षा को पूरी तरह बदल दिया। शिक्षा का बाल केन्द्रित तो बनाया गया किन्तु वास्तव में वह रोजगार–केंद्रित हो गयी। व्यवसायिक एवं तकनीकी शिक्षा का प्रभाव बढ़ा। लेकिन मीलिनियम ईयर तक आते–आते धीरे–धीरे शिक्षा ने भारतीय समाज के बिगड़ते हालात को पहचानना प्रारंभ कर लिया। 1992 की रायमूर्ति आयोग ने कहा कि – हम 'अजनबीपन' से जकड़ा हुआ एक 'मूल्यहीन समाज' की ओर जा रहे हैं। हमारी 'भारतीयता' संकट में है। .... और तब शिक्षा के कई नवाचार सामने आने लगे। पर्यावरण शिक्षा, जनसंख्या शिक्षा, समावेशी शिक्षा और शांति शिक्षा इत्यादि।

भारत के बदलते परिदृश्य की दशा एवं दिशा शांति शिक्षा की प्रासंगिकता को सुदृढ़ करती है। जब हम संस्कृति, साहित्य, मीडिया और समाज के मनोविज्ञान की बात करते हैं, तो इन सबके 'कर्त्ता से अधिकरण' तक की वृतांत के केन्द्र में 'मनुष्य' हीं होता है। वही मनुष्य, जो बदलते परिदृश्य का नियामक है; कभी साहब बनकर, कभी चाकर बनकर। पहले हमने आदि मानव को मानव बनाना चाहा, तो उसे मानवता का पाठ पढ़ाया; सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की लोकमंगलकारी चेतना जगायी। जब अभाव और आक्रमण का दौर आया, तो हमने नागरिकता का पाठ पढ़ाया; उसे 'नागरिक' बनाया। जब भूमंडलीकरण में बाजारों का प्रभुत्व बना, तो हमने नागरिकों को उपभोक्ता बना दिया। उपनिषद् में लिखा है–

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव चा।।
इन्द्रयाणि ध्यानहुर्विषयां स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तो त्वाहुर्मनीषिणः।।

शरीर रथ है। आत्मा रथी। बुद्धि सारथी है। मन रश्मि है और इन्द्रियां घोड़े हैं। यह रथ संसार मार्ग पर विषयों के मार्ग चला जा रहा है। जिस प्रकार रथ के घोड़े वश में न होने पर रथ को उबड़–खाबड़ मार्ग में ले जाकर पटक देते हैं, ठीक उसी प्रकार यदि इन इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में न किया जाये, तो ये न जाने किस आत्मा को अपनी इच्छानुसार किस पतनके गर्त में डाल दें। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य मन रूपी लगाम के साथ इन्द्रिय रूपी अश्वों को विवेक के द्वारा वश में करें और उन्हें ठीक मार्ग पर चलने योग्य बनाये। अंग्रेजी शासन के पहले तब हमारे देश में आत्मिक विकास और चरित्र–निर्माण एक तरह से शिक्षा का मूल आधार था। रोजगार हमारे 'आत्म–निर्भरता' का एक प्रमुख हिस्सा था, किन्तु 'सिर्फ' रोजगार ही नहीं। तब पश्चिमी देशों में नैतिकता की शिक्षा अलग से ही दी जाती थी। हमारे यहाँ ऐसी कोई अलग विषय या व्यवस्था नहीं थी। 'संयम' हीं एकमात्र हमें सशक्त और सुसंस्कृत बना रहा था।

निष्कर्ष

आज हमारे ज्ञान–विज्ञान के दायरे में 'संयम' लगभग निष्कासित सा दिखता है। आज 'अभाव' से अधिक प्रभाव (infuence) 'संकट' (crisis) का है। संकट ही मानवीय चेतना और सामाजिक जीवन के पतन का कारण है। शांति–शिक्षा इस संकट से उबरने में हमें मदद करती है। अमेरिका जैसे विकसित देश ने तो पहले 1982 में ही अपने यहां पीस यूनिवर्सिटी की अलग शाखा बना दी; किन्तु हमने सिर्फ 21 सितंबर को विश्वशांति दिवस मनाकर अपने लिए, अपनी संस्कृति और कृति के लिए अपना दायित्व पुरा मान लिया। जबकि ऐसा नहीं है। हमें शांति–शिक्षा के उद्देश्यों को समझना होगा, शांति के विभिन्न बदलते स्वरूपों को जानना होगा; तभी हम अपनी संस्कृति और कृति के डूबती नैया को बचा पायेंगे। शांति शिक्षा मार्टिन लूथर किंग की कही उक्ति केवल युद्ध की अनुपस्थिति से आगे मन में न्याय की उपस्थिति नहीं है; यह योग और व्यायाम तक ही सीमित नहीं है और न हीं अहिंसा–परोपकार का शंखनाद है। यह तो भारतीय समाज के सरोकार को नवजीवन प्रदान करने वाला मूलमंत्र है। इसके अंतर्गत मन के तनाव और संघर्ष से व्यक्ति की पहचान कुछ इस प्रकार करायी जाती है, जहां उसका चरित्र 'संयमित' होने के रास्ते को देख जरूर लेता है। इस नवाचार के पाठ्यक्रम 'आत्मनियंत्रण' के उद्देश्य से प्रेरित है। अब हम ना तो पाठ्यपुस्तकों में शांति के तत्त्व ढुंढने की कोशिश कर सकते हैं, ना उपदेशों में शांति के पाठ पढ़ने का वक्त निकाल पाते। ऐसे में यदि सभी

संकायों के पाठक्रमों में शांति–शिक्षा का एक पत्र शामिल हो जायें, तो शायद युवाओं की प्रकृति बदलेगी। .... और तब भारतीय संस्कृति भी समरसता की ओर बदलेगी। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा था – ''जो जैसा होने को बाध्य है, 'प्रकृति' है, पर इसे परिमार्जित और वांछित दिशा में ले जानेवाला परिवर्त्तन 'संस्कृति' कहा जाता है। कुत्सित और अवांछित दिशा में ले जाने वाला परिवर्त्तन 'विकृति' कहा जाता है। प्रकृति या तो संस्कृति की ओर ले जायी जाती है या विकृति की ओर। इसी में मूल्य की अवतारणा होती है।''

आज मनुष्य की प्रकृति मतैक्य के कारण सबसे अधिक भ्रमित और कुत्सित है। यह मतैक्य अपने अंदर का भी है और बाहर का भी। समाज शास्त्र विश्वकोश में 'मतैक्य' के लिए कहा गया है कि ''मतैक्यता सामाजिक प्रणालियों का एक गतिशील लक्षण है। इसकी मात्रा दो या दो से अधिक व्यक्तियों के समूह तथा सम्पूर्ण समाज में भिन्न होती है। इन प्रणालियों के सदस्यों में तब मतैक्यता मानी जाएगी जब इन प्रणालियों के सदस्यों में, आदर्शात्मक तथा संज्ञानात्मक विषयों से संबंधित क्रियाओं के संबंध में सकारात्मक स्वीकृति होती है। ये क्रियाएं एक–दूसरे के प्रति या प्रणाली के प्रमुख व्यक्तियों अथवा भूमिकाओं तथा समूहों के प्रति हो सकती है। अतः मतैक्यता उन नियमों के संबंध में एक समझौता है जो प्रणाली के लक्ष्यों तथा व्यवस्था के अन्तर्गत भूमिकाओं तथा पुरस्कारों के आवंटन–संबंधी उनके व्यवहारों को नियंत्रित करते हैं। किसी भी प्रणाली में, चाहे वह छोटी हो या बड़ी, पूर्ण मतैक्यता असंभव है। किन्हीं मसलों पर अय मसलों की अपेक्षा अधिक मतैक्य हो सकता है। किन्हीं मामलों पर किसी समूह के एक वर्ग की अपेक्षा समूह के अधिकांश व्यक्ति मतैक्यता रख सकते हैं। यही नहीं, समय के अनुसार मतैक्यता की मात्रा में बदलाव आ सकता है। मतैक्यता में एक अन्य तत्व भी निहित होता है, वह है एकात्मता। इसका विकास व्यक्तिगत स्नेहपूर्ण सम्बन्धों या कुछ आधारभूत विशेषताओं या एक सामान्य संस्कृति में सहभागी होने के कारण सामान्य पहचान की अनुभूति द्वारा होता है।'' शांति शिक्षा 'एकत्त्व की भावना' (Unity of Peace) की बात करती है। यह बात और है कि इस नवाचार के प्रयोग में समाज–सापेक्ष–मूल्यांकन एवं परिवर्तन की बहुत आवश्यकता है। लेकिन इतना तो तय है कि 'शांति–शिक्षा' भारतीय बदलते परिदृश्य में संस्कृति, साहित्य, मीडिया और समाज के मनोविज्ञान पर प्रभाव डालने की क्षमता रखती है। शिक्षाविद् मुनीस रज़ा ने कहा था – ''भावी शिक्षा को मनुष्य और प्रकृति (उसके स्वभाव और प्रकृति पर्यावरण) के बीच आदम एकता जरूर स्थापित करनी होगी। हालांकि अब इस एकता की स्थापना वातावरण के गुणात्मक रूप से ऊँचे स्तर पर की जाएगी।'' शांति–शिक्षा कुछ ऐसी ही विचारणा का एक प्रयोग है। यह मनुष्य और परिस्थिति के बीच समन्वय बनाने वाली सोच का निर्माण करता है। मानवाधिकार के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संदर्भो को समझने की ताकत देता है। योग का अर्थ प्राणायम से आगे व्यक्ति और व्यष्टि को जोड़ने की मानसिकता तैयार करता है। निःसंदेह यदि शांति–शिक्षा के विषयवस्तु, प्रक्रिया एवं पढ़ानेवाले की दक्षता का पुर्नमुल्यांकन करके, इसे सभी संकायों का हिस्सा बनाया जाये, तो भारतीय परिदृश्य में सकारात्मक बदलाव की आहट हम सुन सकेंगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *अनुवादक डोनिया, 2008, शिक्षा का समाजशास्त्री संदर्भ, ग्रंथे शिल्पी, नई दिल्ली।*
2. *एम.एच.आर.डी., 1986–1992, नेशनल पॉलिसी ऑन एजुकेशन, नयी दिल्ली।*
3. *कुमार, जैनेन्द्र, 1995, समय और हम, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/86 दरियागंज, नई दिल्ली।*
4. *प्रताप, राणा, 2009, शिक्षा के सरोकार, राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली।*
5. *बाला सूर्या, ए. एस., 2001, लर्निंग द वे ऑफ पीस–ए टीचर गाइड टू एजुकेशन फॉर पीस, यूनेस्को।*
6. *भारतीय आधुनिक शिक्षा, जुलाई 2009, एन.सी.इ.आर.टी., नई दिल्ली।*
7. *राधाकृष्णन एस., 1990, उपनिषदों का संदेश राजपाल एंड संस, दिल्ली।*
8. *सक्सेना/ठाकुर, 1997, भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना, साक्षरा प्रकाशन, नई दिल्ली।*
9. *सलामातुल्लाह कादरी, ए. डब्ल्यू. बी., 1999, जाकिर हुसैन ऑन एजुकेशन, एन.सी.टी.ई, नयी दिल्ली।*
10. *यादव राजेन्द्र, 1968, कहानी स्वरूप और संवेदना, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली।*